International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
e-ISSN :2581-9925, Impact Factor (Cosmos: 7.555 & I2OR: 5.105), Volume 08, No. 01(I), January - March, 2026, pp. 33-36

अहिंसा की सीमा में पर्यावरण का महत्व

डॉ. रंजीत कुमार सिंह*

सहायक शिक्षक इन्टर कॉलेज, बेलाउर, उदवन्तनगर, आरा।

*Corresponding Author: uptodateara@gmail.com

Citation: रंजीत कुमार सिंह (2026). अहिंसा की सीमा में पर्यावरण का महत्व. International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science, 08(01(I)), 33–36

सार

प्रकृति वस्तुतः जीवन की परिचायिका है। पतझड़ के बाद वसन्त और वसन्त के बाद पतझड़ आती है। दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख का चक्र एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। वनस्पति और पशु–पक्षी प्राणी जगत् प्रकृति के अभिन्न अंग हैं। उनकी सौन्दर्य–अभिव्यक्ति जीवन की यथार्थता है। वसन्तोत्सव हमारे हर्ष और उल्लास का प्रतीक बन गया है। कवियों और लेखकों ने उसकी उन्मान्दकता को पहचाना है, सरस्वती की वन्दना कर उसका आदर किया है और हल जोतकर जीवन के सुख का संकेत दिया है। इसका तात्पर्य है कि पर्यावरण का सम्बन्ध पशु–पक्षी और वनस्पति तथा मानव के साथ अनुस्यूत रूप में जुड़ा हुआ है।

शब्दकोशः *जीवन की परिचायिका, अहिंसा, पर्यावरण, प्राकृतिक सन्तुलन, वैज्ञानिक सत्य।*

प्रस्तावना

अहिंसा धर्म है, संयम है और पर्यावरण निसर्ग है, प्रकृति है। प्रकृति की सुरक्षा हमारी गहन अहिंसा और समय साधना का परिचायक है। प्रकृति का प्रदूषण पर्यावरण के सन्तुलन का आवाहक है और असन्तुलन अव्यवस्था और भूचाल का प्रतीक है। अतः प्राकृतिक सन्तुलन बनाए रखना हमारा धर्म है, कर्तव्य है और आवश्यकता भी। अन्यथा विनाश के कगारों पर हमारा जीवन बैठ जाता है और कटी हुई पतंग–सा लड़खड़ान लगता है। यह ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सत्य है।

प्राचीन ऋषियों, महर्षियों और आचार्यो ने इस प्रतिष्ठित तत्त्व को न केवल भली–भाँति समझ लिया था बल्कि उसे उन्होंने जीवन में उतारा भी था। वे प्रकृति के रम्य प्राङ्गण में स्वयं रहते थे, उसका आनन्द लेते थे और वनवासी होकर स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए प्रकृति की सुरक्षा किया करते थे। जब कभी प्राकृतिक सन्तुलन बिगड़ज्ञ, विपत्तियों के अम्बार ने हमारे दरवाजे पर दस्तक दी और तब भी यदि हम न सम्भले तो मृत्यु का दुःखद आलिंगन करने के अलावे हमारे पास कोई दूसरा रास्ता नहीं बचेगा। शायद यही कारण है कि हमारे पुरखों ने हमें ''परस्परोपग्रहो जीवनाम्'' का पाठ अच्छी तरह से पढ़ा लिया जिसे हमने गांठ बांधकर सहेज लिया।

प्रकृति प्रदत्त सभी वनस्पतियाँ भी सांस लेती है, कार्बन डाई–आक्साइड के रूप में और सांस छोड़ती हैं आक्सीजन के रूप में। इसलिए बाग–बगीचों का होना स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक है। पेड़–पौधें की यह जीवन प्रक्रया हमारे जीवन को सम्बल देती है, स्वस्थ हवा और पानी देकर तथा आवाहन करती है। जीवन को संयमित

* *Copyright © 2026 by Author's and Licensed by Inspira. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution License which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work properly cited.*

और अहिंसक बनाए रखने का। सारा संसार जीवों से भरा हुआ है और हर जीव का अपना–अपना महत्त्व है। उनके अस्तित्व की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। उनें सुख–दुःख के अनुभव करने की शक्ति होती है। जैनागमों में मूलतः स्थावर और त्रस ये दो प्रकार के जीव बतलाये गये हैं। स्थावर जीवों चलने–फिरने की शक्ति नहीं होती, ऐसे जीव पाँच प्रकार के होते हैं– 1. पृथ्वीकायिक, 2. अप्कायिक, 3. वनस्पतिकायिक, 4. अग्निकायिक, 5. वायुकायिक। दो इन्द्रियों से लेकर पांच इन्द्रियों वाले जीव त्रस कहलाते हैं। जैनशास्त्रों में इन जीवों के भेद–प्रभेदों का वर्णन बड़े विस्तार से मिलता है जो वैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरता है। इस सब जीवों का गहरा सम्बन्ध पर्यावरण से है।

हमारे चारों ओर की भूमि, हवा और पानी ही हमारा पर्यावरण है। इनसे हमारा पुराना सम्बन्ध है लेकिन इससे भी अधिक पुराना सम्बन्ध है पौधें और जानवरों से। हमारे जिसे सारे जानवर और पौधें जरूरी हैं। उनके बिना हमारा जीवन सुसंचालित नहीं हो सकता। यह पर्यावरण जीव–जन्तुओं और पेड़–पौधों के कारा ही जीवन्त है। उनकी हिंसा करने पर प्रकृति भी अपनी प्रतिक्रिया दिखलाती है। आज के भौतिक वातावरण में विज्ञान की चकाचौध में हम अज्ञानवश अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए अपने प्राकृतिक पर्यावरण को दूषित कर रहे हैं। प्रकृति का सन्तुलन डगमगाने लगा है। इसकी सादगी और पवित्रता कुचली जा रही है, नष्ट हो रही है। इसका मूल कारण है हमारी असंयममूलक तृष्णा और प्रबल आशा का संचरण। हमने वन, उपवन को नष्ट–भ्रष्ट कर ऊँची–ऊँची अट्टालिकायें बना लीं, बड़े–बड़े कारखाने स्थापित कर लिए जिनसे हानिकारक रसायनों और गैसों का निर्झरण हो रहा है, उपयोगी पशु–पक्षियों और कीड़ों–मकोड़ों को समाप्त किया जा रहा है। वाहनों आदि से ध्वनि प्रदूषण, गन्दगी, कूड़ा–कचड़ा आदि बहा देने से जल प्रदूषण और गैस से वायु प्रदूषण हो रहा है। हम अपने क्षणिक लाभ के लिए सारी प्राकृतिक सम्पदा को असन्तुलित करने के दोषी बन रहे हैं।

कुछ प्रदूषण प्रकृति से होता है पर उसे प्रकृति ही स्वच्छ कर देती है। जैसे पेड़–पौधों की कार्बन डाई आक्साइड सूर्य की किरणों से साफ होकर आक्सीनज में बदल जाती है। हमारा बहुत सारा जीवन इन्हीं पेड़–पौधों पर अवलिम्बत है। वैज्ञानिकों ने अपने अनुसन्धान के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि अलग–अलग तरह के पेड़–पौधों की पत्तियाँ विभिन्न गैसों आदि के जहर, धूल आदि से जूझकर पर्यावरण को स्वच्छ रखती है। जंगल कट जाने से वर्षा कम होती है, आबहवा बदल जाती है, सूखा पड़ता है, बाढ़ आती है, गर्मी अधिक होती है। वन्य जीव भी इसी तरह हमारी भौतिकता के शिकार हो रहे हैं। अनेक उपयोगी जानवर, पक्षी और कीड़ों को हम समाप्त कर रहे है। इस कारण हमारा जीवन विनाश की दिशा में तेजी से बढ़ रहा है। यदि हमने पर्यावरण की सुरक्षा और प्रदूषण की मात्रा कम नहीं की तो पर्यावरण जहरीला होकर हमारे जीवन तो तहस–नहस कर देगा। नई–नई बीमारियों से हम त्रस्त हो जाएगंगे। पर्यावरण की रक्षा वस्तुतः हमारा विकास है। उदाहरण के तौर पर काई, आम, पीपल, बरगद आदि पेड़ पौधे वातावरण की गन्दी हवा को छानकर और स्वयं जहर का घूँट पीकर हमें स्वच्छ हवा और प्राणवायु देते हैं। इसी तरह आम, सूर्यमुखी, चौलाई, कनकौना, गौर, सनई आदि भी गन्दी हवा दूर करके हमारी सेवा करते हैं।

वैज्ञानिक अनुसन्धान के फलस्वरूप यह स्पष्ट है कि पर्यावरण का असन्तुलन हिंसाजन्य है और हिंसा तब तक होती रहती है जबतक हमें आत्मबोध न हो। आत्मतुला की कसौटी पर कसे बिना व्यक्ति न तो दूसरे के दुःख को समझ सकता है और न उसके अस्तित्व को स्वीकार कर पाता है। कदाचित् यही कारण है कि आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम ग्रन्थ का प्रारम्भ शस्त्रपरीक्षा से करके हमें अस्तित्व बोध कराया गया है। यह अस्तित्व बोध अहिंसात्मक आचार–विचार की आस्था का आधार स्तम्भ है। अहिंसा के चार मुख्य आधर स्तम्भ हैं– आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। प्राकृतिक पर्यावरण और नैतिक पर्यावरण, दोनों की सुरक्षा के लिए इन चारों मापदण्डों का पालन करना आवश्यक है। इन चारों की पृष्ठभूमि में अहिंसा–दर्शन प्रहरी के रूप में खड़ा रहता है।

दिशा–दृष्टि से दूर पड़ा हुआ व्यक्ति ''जीवो जीवस्य भोजनम्'' मानकर स्वयं की रक्षा के लिए दूसरे का अमानुषिक वध और शोषण करता है, प्रशंसा, सम्मान, पूजा, जन्म–मरण मोचन तथा दुःख प्रतिकार करने के लिए वह अज्ञानपूर्वक शस्त्र उठाता है और सबसे पहले पृथ्वी और पेड़–पौधों पर प्रहार करता है जो मूक है, प्रत्यक्षतः

कुछ कर नहीं सकते, परन्तु ये मात्र मूक हैं इसलिए चेतनाशून्य हैं और निरर्थक है यह सोचना वस्तुतः हमारी मृत्यु का कारण बन सकता है जिसे महावीर ने कहा– ''एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु निरए।''[1] यह मोह हमारी प्रमाद अवस्था का प्रतीक है। इसी से हम पृथ्वीकायिक आदि जीवों की हिंसा करते हैं। इन स्थावर जीवों में भी प्राणों का स्पन्दन है, उनकी चेतना सतत् मूर्च्छित और बाहर से लप्त भले ही लग रही हो पर उन्हें हमारे अच्छे–बुरे भावों का ज्ञान हो जाता है और शस्त्रच्छेदन होने पर कष्टानुभूति भी होती है। भगवतीसूत्र में तो कहा गया है कि पृथ्वीकायिक जीव आक्रान्त होने पर वृद्ध पुरुष से कहीं अधिक अनष्टितर वेदना का अनुभव करता है। इतिहास यह बताता है कि जो पृथ्वी के गर्भ में करोड़ों साल पहले जीवों का रूप छिपा रहता है जो फासिल्स (जीवाश्म) के रूप में हमें प्राप्त हो सकता है, पृथ्वी के निरर्थक खोदने से उनके टूटने की सम्भावना हो सकती है और साथ ही पृथ्वी के भीतर रहने वाले जीवों के वध की भी जिम्मेदारी हमारे सिर पर आ जाती है।

जैन धर्म के अनुसार पृथ्वी सजीव है, सशरीरी है– संति पाणा पुढ़ो सिया।[2] सर्वाथसिद्धि में पृथ्वी के चार भेद बताए गए हैं– पृथ्वी, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीकाय और पृथ्वीजीव। मूलाचार[3] में पृथ्वी के 36 भेद बताये गये हैं– मिट्टी, बालू, पत्थर, लोहा, तांबा, सीसा, चांदी, सोना, हीरा, मणि आदि। इन सभी के बारे में जैन साहित्य में काफी सामग्री भरी पड़ी हुई है। जैनधर्म में पृथ्वीकाय की ही हिंसा वर्जित है। यदि व्यक्ति इस हिंसा से विरत होता है तो खान आदि के कारण जो पर्यावरण प्रदूषण या आपत्तियों की सम्भावना बढ़ती है वह कम हो सकती है।

इसी तरह जलकायिक जीव होते हैं जिनकी हिंसा न करने के लिए हमें सावधान किया गया है। क्षेत्रीय आधार पर जल में कीड़े उत्पन्न होने को तो सभी ने स्वीकार किया है पर जल के रूप में उत्पन्न होने वाले जीवों की स्वीकृति जैन दर्शन में ही दिखाई देती है इसलिए उत्सेचन (कुँऐ से जल निकालना), गालन (जल छानना), धोवन (जल से उपकरण आदि धोना) जैसी क्रियाओं को जलकाय के शस्त्र के रूप में निर्दिष्ट किया है। ऐसी हिंसा व्यक्ति के अहित के लिए होती है, अबोधि के लिए होती है (तं ते अहिताए, तं ते अबोहीए)। इसीलिए जैनधर्म में जल गालन और प्रासुक जलसेवक को बहुत महत्त्व दिया गया है। साथ यह भी निर्देश दिया गया है कि जो पानी जहाँ से ले आयें, उसकी बिलछावनी धीरे से उसी में छोड़नी चाहिए ताकि उसके जीव न मर सकें। ''पानी पीजे छानकर, गुरु कीजे जानकर'' कहावत स्वच्छ पानी के उपयोग का आग्रह करती है।

वनस्पति कायिक जीवों की हिंसा आज सर्वाधिक बड़ी समस्या बनी हुई है। पेड़–पौधें को काटकर आज हम उन्हें व्यर्थ ही जलाते जा रहे हैं। वे मूक–बधिर अवश्य दिखाई देते हैं पर उन्हें हम आप जैसी कष्टानुभूति होती है। पेड़–पौधें जन्मते, बढ़ते और म्लान होते हैं। भवगतीसूत्र के सातवें–आठवें शतक में स्पष्ट कहा गया है कि वनस्पतिकायिक जीव भी हम जैसे ही श्वाच्छवास लेते हैं। शरद, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म आदि सभी ऋतुओं में कम से कम आहार ग्रहण करते हैं। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से भी यह कथन सत्य सिद्ध हुआ है। प्रज्ञापना[4] में वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार बताये गये हैं और उन्हीं का विस्तार अगंविज्जा आदि प्राचीन गन्थों में मिलता है। इन ग्रन्थों के उद्धरणों से यह तथ्य छिपा नहीं है कि तुलसी जैस सभी हरे पौधें ओर हरी घास, बांस आदि वनस्पतियाँ हमारे जीवन के निर्माण की दिशा में बहुविध उपयोगी है।

जैनधर्म की वनस्पति में भी चेतना के अस्तित्व को प्रारम्भ से ही स्वीकार करता है जिसमें आधुनिक विज्ञान भी सहमत है। पौधें अपनी हिंसा से भयभीत हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं। इसलिए जैन धर्म वनस्पति–जगत को काटने में हिंसा मानता है और उससे विरत रहने का निर्देश देता है।[5] उसके अनुसार वृक्ष, कन्दमूल आदि प्रत्येक वनस्पति है, पृथक्–पृथक् शरीर वाले हैं और मूली, अदरक आदि को साधारण वनस्पति माना जाता है जिनमें अनन्त जीव रहते हैं। पर्यावरण को सुरक्षित रखने की दृष्टि से जैन धर्म में इन सभी की हिंसा वर्जित मानी गयी है।

पर्यावरण का सम्बन्ध मात्र प्राकृतिक सन्तुलन में ही नहीं है बल्कि आध्यात्मिक और सामाजिक वातावरण को परिशुद्ध और पवित्र बनाए रखने के लिए भी उसका उपयोब किया जाता है। इस कथन की सिद्धि के लिए हम जैन–बौद्ध–वैदिक आदि परम्पराओं में मान्य उन चैत्य और बोधि वृक्षों का उल्लेख कर सकते है जिनमें नीचे

बैठकर तीर्थंकरों, बुद्धों और ऋषि–महर्षियों ने ज्ञान प्राप्त किया था। इतना ही नहीं, जैन तीर्थंकर के चिन्हों को भी पर्यावरण से जोड़ा जा सकता है। संक्षेप में यदि कहा जाए तो धर्म ही पर्यावरण का रक्षक है और नैतिकता उसका द्वारपाल।

आज हमारे समाज में चारों ओर अनैतिकता और भ्रष्टाचार सुरसा की भाँति बढ़ रहा है। चाहे वह राजनीति का क्षेत्र हो या शिक्षा का, धर्म का क्षेत्र हो या व्यापार का, सभी के सिर पर पैसे कमाने का भूत सवार है माध्यम चाहे कैसा भी हो इससे हमारे सारे सामाजिक सम्बन्ध तहस–नहस हो गए हैं। भ्रातृत्व भाव और प्रतिवेशी संस्कृति किनारा काट रही है, आहार का प्रकार मटमैला हो रहा है, शाकाहार के स्थान पर अप्राकृतिक खान–पान स्थान ले रहा है। मिलावट ने व्यापारिक क्षेत्र को सड़ी रबर की तरह दुर्गन्धित कर दिया है। अर्थलिप्सा की पृष्ठभूमि में बर्बरता बढ़ रही है। प्रसाधनों की दौड़ में मानवता कूच कर रही है। इन सारी भौतिक वासनाओं की पूर्ति में हम अपनी आध्यात्मिक संस्कृति को भूल बैठे हैं। मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं के बीच समन्वय खत्म हो गया है। हमारी धार्मिक क्रियायें मात्र बाह्य आचरण का प्रतीक बन गयी है। परिवार का आदर्श जीवन समाप्त हो गया है, ऐसे विकट परिस्थिति में अहिंसा के माध्यम से पर्यावरण को सन्तुलित बनाए रखने की साधना को पुनरुज्जीवित करना नितान्त आवश्यक हो गया है ।

जैन श्रावकाचार के अनुसार न्यायपूर्वक अर्जन, माता–पितादि की सेवा, धर्मश्रवण, जितेन्द्रियता आदि गुण श्रावक में होना चाहिए। पाक्षिक श्रावक आठ मूल गुणों का पालन करताहै– पञ्चाणुव्रत तथा मद्य, मांस, मधु त्याग, इन अष्टमूलगुणों का पालन करता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान करने वाला सभी व्यसनों से निर्मुक्त होता है। इसी सन्दर्भ में जैन साहित्य में अहिंसा और सदाचार का काफी विस्तार से वर्णन मिलता है। यज्ञ, बलि आदि जैसी कर्मकाण्डीय क्रियाओं और त्रिमूढ़ताओं से दूर रहने का भी आह्वान किया गया है। इसी तरह नैष्ठिक श्रावक ग्यारह प्रतिमाओं का पालन कर आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करता है और नैतिक प्रदूषण से बचता/बचाता है।

एक दिन ऐसा आयेगा जब मनुष्य को स्वास्थ्य के सबसे बुरे शत्रु के रूप में निर्दयी 'शोर' से संघर्ष करना पड़ेगा। यह ध्वनि प्रदूषण उद्योग–धन्धों, मशीनों, परिवहन तथा मनोरंजन के साधनों द्वारा उत्पन्न हो रहा है जिसे संयमित किया जा सकता है। परिणाम व्रत के पालन करने से।

पर्यावरण का यह विकट आन्तरिक और बाह्य असन्तुलन धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में भी जबरदस्त क्रान्ति लायेगा। यह क्रान्ति अहिंसक हो तो निश्चत ही उपादेय होगी पर यह असन्तुलन और बढ़ता गया तो खूनी क्रान्ति होना भी असंभव नहीं है। जहाँ एक दूसरे समाज के बीच लम्बी–चौड़ी खाई हो गयी हो, एक तरफ प्रासाद और दूसरी तरफ झोपड़ियाँ हो, एक ओर कुपच और दूसरी ओर भूख से मृत्यु हो तो ऐसा समाज बिना वर्ग संघर्ष के कहाँ रह सकता है? सामाजिक समता की प्रस्थापना और वर्ग संघर्ष की व्यथा–कथा को दूर करने के लिए अहिंसक समाज की रचना और पर्यावरण की विशुद्धि एक अपरिहार्य साधना है। यही धर्म है और यही संयम है और यही सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचरण का सार है–

एवं खु णाणिणो सारं जं हिंसइ ण कंचणं
अहिंसा सयं चेव एयावंतं वियाणि या।[6]

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आ. 1/25
2. आचा. 1/16
3. मूलाचार, गाथा 206–09
4. प्रज्ञापना 22 से 25 सूत्र
5. आ. 1.5.82, मूला. 5–23
6. सूत्रकृतांग, 1/1/4/10.

❑❑❑